

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की
एक नंगी और गन्दी तस्वीर



मूल्य : रू. 3.00

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, 2008

प्रकाशक : **राहुल फ़ाउण्डेशन**

69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : **रामबाबू**

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

**Chor, Bhrasht aur Vilasi Netashahi: Bhartiya Poonjivaadi
Jantantra ki ek Nangi aur Gandhi Tasveer**

बीस रुपये रोज़ाना से कम की आमदनी पर गुज़ारा करने वाली भारत की करीब चौरासी करोड़ आबादी को देश के नेताओं के भ्रष्टाचार और ऐयाशी के बारे में तो पता है, लेकिन क़ानूनी तौर पर उन्हें जो वेतन-भत्ते-सुविधाएँ हासिल हैं, उन पर आम जनता की गाढ़ी कमाई का कितना बड़ा हिस्सा खर्च होता है, इसका वे अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते। क़ानूनी कमाई के अतिरिक्त, देश की नेताशाही और नौकरशाही दलाली, कमीशनखोरी और घूसखोरी के द्वारा जो काला धन जमा करती है, उसका अनुमान लगा पाना तो एक आम आदमी के लिए और भी मुश्किल है।

आइये, अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों और पूँजीवादी अख़बारों की कुछ रिपोर्टों, सूचना के अधिकार के तहत विभिन्न सरकारी महक़मों से हासिल की गयी कुछ जानकारियों और कुछ आर्थिक-राजनीतिक मामलों के बर्जुआ विशेषज्ञों की पुस्तकों या लेखों से लिये गये थोड़े से चुनिन्दा तथ्यों और आँकड़ों की रोशनी में भारतीय जनतन्त्र की कुरूप, अश्लील और बर्बर असलियत को पहचानने की कोशिश करें।

सबसे पहले चुनाव और जनतान्त्रिक ढाँचे के क़ानूनसम्मत खर्च-बर्च पर निगाह डाली जाये।

जिस देश में 35 करोड़ आबादी रात को भूखी सोती हो, प्रतिदिन नौ हजार बच्चे भूख और कुपोषण से मरते हों, 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हों, 18 करोड़ लोग फ़ुटपाथों पर सोते हों और तक़रीबन 80 करोड़ लोग अपनी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा न कर पाते हों, वहाँ इन लोगों का प्रतिनिधित्व करने वालों पर सालाना (केन्द्र व राज्य के सभी मन्त्रियों, संसद सदस्यों, विधायकों को मिलाकर) खरबों रुपये (यानी कुछ हजार करोड़ रुपये) खर्च होते हैं। मानव विकास सूचकांक के हिसाब से, ग़रीबी के मामले में भारत भले ही दुनिया में सबसे नीचे पायदान के देशों (अफ़्रीका और सब-सहारा के कुछ देशों के साथ, तथा पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश से भी नीचे) खड़ा हो, लेकिन ऐशो-आराम के मामले में भारत के नेताओं का जीवन अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी,

जापान आदि देशों के नेताओं के बराबर नहीं बल्कि उनसे काफी आगे है। राजधानियों में उनके बंगले, उनकी एसी गाड़ियाँ, उनकी सुविधाएँ, उनके सेवा में तत्पर अमले-चाकर और सुरक्षाकर्मी – सब कुछ उन्हें राजाओं-महाराजाओं के जीवन का अहसास देता है।

भारत में एक संसद सदस्य को 12 हजार रुपये मासिक वेतन, बैठक आदि के लिए 10 हजार रुपये मासिक, कार्यालय के लिए 14 हजार रुपये मासिक, संसद के सत्रों के दौरान 500 रुपये दैनिक भत्ता मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें प्रथम श्रेणी एसी में पूरे देश में मुफ्त रेल यात्रा के लिए असीमित पास मिलता है। 40 हवाई यात्राएँ वे पत्नी या पीए के साथ मुफ्त कर सकते हैं। 50 हजार यूनिट सालाना बिजली वे मुफ्त जला सकते हैं, 1,70,000 टेलीफोन काल सालाना मुफ्त कर सकते हैं और दिल्ली में एमपी हॉस्टल में उनका रहना निःशुल्क होता है। संसद की कैण्टीन इतनी सब्सिडाइज़्ड होती है कि लगभग 10 प्रतिशत मूल्य का ही भुगतान करना पड़ता है। एक संसद सदस्य पर प्रति वर्ष 32 लाख रुपये, यानी पाँच वर्ष में एक करोड़ 60 लाख रुपये खर्च होते हैं। यानी कुल 543 संसद सदस्यों पर पाँच वर्षों में होने वाला कुल खर्च आठ अरब 68 करोड़ 80 लाख रुपये बैठता है। संसद में एक घण्टे की कार्यवाही (जो बहसबाज़ी, उछलकूद, नारेबाज़ी और सोने-ऊँघने से अधिक कुछ भी नहीं होती) पर करीब 20 लाख रुपये खर्च होते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और विभिन्न कमेटियों के सदस्यों के खर्चे आम संसद सदस्यों से कई गुना अधिक होते हैं। सभी मन्त्रालयों के भवनों और राजनेताओं के वैध-अवैध क़ब्ज़ों वाले भवनों का रखरखाव सीपीडब्ल्यूडी करता है।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और सम्बद्ध विभागों का कुल खर्च वर्ष 2006-07 में 1 खरब 36 अरब डॉलर (यानी करीब 61 खरब 20 अरब रुपये) और 2007-08 में 1 खरब 66 अरब डॉलर था। वर्ष 2008-09 में इसके 1 खरब 75 अरब डॉलर हो जाने की उम्मीद है। पिछले वर्ष के मुक़ाबले वर्ष 2007-08 में केन्द्र सरकार की कर राजस्व (टैक्स रेवेन्यू) से होने वाली शुद्ध आय 23 प्रतिशत बढ़कर 3 खरब 75 अरब डॉलर हो गयी। ज्ञातव्य है कि करों से होने वाली कुल सरकारी आय का नब्बे फ़ीसदी से भी अधिक भाग आम लोग परोक्ष करों के रूप में देते हैं। यानी लगातार बढ़ते आकार वाले केन्द्र और राज्य के मन्त्रिमण्डलों के गुब्बारे के समान फूलते खर्च को आम लोग ज़्यादा टैक्स चुकाकर वहन करते हैं। मनमोहन सिंह 50 कैबिनेट मन्त्रालय सहित कुल 104

मन्त्रालयों का भारी भरकम काफ़िला चलाते हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका कुल 15 मन्त्रालयों से अपना वैश्विक साम्राज्य सँभालता है।

अर्थशास्त्र की भाषा में गैरयोजनागत खर्च (नॉन प्लैण्ड एक्सपेण्डिचर) वह सरकारी खर्च होता है जो योजना या वार्षिक बजट में शामिल नहीं होता। वर्ष 2005-06 में भारत के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का गैरयोजनागत खर्च चार करोड़ पचास लाख डॉलर था, जिसमें यात्रा व्यय (एक करोड़ दस लाख डॉलर), प्रधानमन्त्री कार्यालय पर व्यय (38 लाख डॉलर) और0 स्पेशल प्रोटेक्शन ग्रुप के कमाण्डो द्वारा सुरक्षा पर व्यय (दो करोड़ 43 लाख डॉलर) शामिल थे। यह गैरयोजनागत खर्च 2008-09 में बढ़कर पाँच करोड़ डॉलर हो गया है। ध्यान रहे कि यह खर्च योजना और वार्षिक बजट के तहत खर्च होने वाले भारी खर्च के अतिरिक्त है। राष्ट्रपति, संसद, उप राष्ट्रपति के सचिवालय और लोक सेवा आयोग पर वर्ष 2007 में सितम्बर माह तक गैरयोजनागत व्यय के मद में चार करोड़ 60 लाख डॉलर खर्च हुए जो वर्ष 2006 की इसी अवधि के मुकाबले 149 प्रतिशत अधिक था।

केन्द्र और राज्यों के मन्त्री प्रायः 50-50 कारों तक के काफ़िले के साथ सफ़र करते हुए देखे जाते हैं और जयललिता को तो सौ कारों के काफ़िले के साथ भी देखा गया है। उस वर्ष 9 जनवरी को वित्त मन्त्रालय के खर्च के महकमे ने एक ऑफिशियल मेमोरेण्डम में फ़ोर्ड मॉडल की एसी कार को स्टाफ़ कारों की फ़्लीट में शामिल करने की अनुशंसा की। लकजरी कारें मन्त्रियों और अफसरों की आम पसन्द हैं। सड़कों पर दौड़ने वाली कारों में से 33 प्रतिशत सरकारी सम्पत्ति हैं जो आम लोगों की गाड़ी कमाई से धुँआ उड़ती हैं। मन्त्रियों की सुरक्षा पर अनुमानतः 2 करोड़ 34 लाख डॉलर सालाना खर्च होते हैं। जेड प्लस श्रेणी की सुरक्षा में 36, जेड श्रेणी की सुरक्षा में 22, वाई श्रेणी की सुरक्षा में 11 और एक्स श्रेणी की सुरक्षा में दो सुरक्षाकर्मी लगाये जाते हैं। सुरक्षा के इस भारी तामझाम के चलते भी गाड़ियों और पेट्रोल का खर्च काफ़ी बढ़ जाता है। दिल्ली के किसी भी महँगे स्कूल के बाहर मन्त्रियों, नौकरशाहों को लाने-ले जाने के लिए सरकारी गाड़ियों की क़तारें देखी जा सकती हैं। शॉपिंग माल्स, ख़ान मार्किट, सरोज़नी नगर, साउथ एक्स और कनाट प्लेस में सरकारी गाड़ियों में मन्त्रियों-अफसरों की बीवियों का शॉपिंग करना आम बात है। रिसार्ट्स और वाटर पार्को के बाहर सरकारी गाड़ियाँ भारी संख्या में खड़ी मिलेंगी।

केन्द्र और राज्य के सभी मन्त्रियों और जन प्रतिनिधियों की सुरक्षा पर सालाना कई खरब रुपये खर्च होते हैं।

अब जरा चुनाव के खर्चों पर भी एक निगाह डाली जाये। वर्ष 2004 के लोकसभा चुनावों में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों को छोड़कर, कुल 40 लाख सरकारी कर्मचारियों को लगाया गया था और कुल घोषित प्रत्यक्ष खर्च 13 अरब रुपये हुए था। ज़ाहिर है कि सभी प्रत्याशियों द्वारा चुनाव प्रचार के कुल खर्च (गाड़ियों से प्रचार, पर्चे-पोस्टर, गुण्डा गिरोहों, भाड़े के प्रचारकों और कम्बल-शराब आदि बाँटने के खर्चों को मिलाकर) को यदि जोड़ लिया जाये तो लोकसभा चुनावों का कुल खर्च उपरोक्त सरकारी खर्चों के दस गुना से भी अधिक होगा।

“दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र” इस देश की जनता पर कितना भारी पड़ता है, इसका एक छोटा सा उदाहरण यह भी है कि पिछले पाँच वर्षों के दौरान राष्ट्रपति भवन का सिर्फ बिजली का बिल साढ़े 16 करोड़ रुपये का था। प्रधानमन्त्री कार्यालय का पिछले तीन वर्षों की बिजली का बिल 37.26 लाख रुपये था। यह सारा खर्च और सभी मन्त्रालयों, सचिवालयों और संसद भवन की बिजली का खर्च केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग (सीपीडब्ल्यूडी) ने उठाया। पाँच वर्षों का अकेले बिजली का ही कुल खर्च अरबों रुपये अनुमानित है। सभी सरकारी भवनों के रखरखाव और राजनेताओं की फ़रमाइश के अनुसार लगातार होते रहने वाले निर्माण-कार्य पर सालाना अरबों रुपये खर्च होते हैं। 340 भव्य कक्षों वाले और कई एकड़ के बाग़ों-पार्कों वाले राष्ट्रपति भवन के रखरखाव पर सालाना करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। भारत के खर्चीले और विलासी जनतन्त्र और औपनिवेशिक विरासत के प्रति लगाव का एक जीवन्त प्रतीक चिह्न है राष्ट्रपति भवन, जो कभी वायसराय का आवास-स्थल हुआ करता था। यह इमारत इतनी बड़ी है कि सरकारी कामकाज के लगभग सभी दफ़्तर इसी में व्यवस्थित हो सकते हैं। वरिष्ठ स्तम्भकार तवलीन सिंह ने एक बार सुझाव दिया था कि मन्त्रियों सहित राज्यसभा-लोकसभा के कुल 780 सदस्यों को एक साथ हॉस्टलों में रखा जाना चाहिए। चलिये, कुछ और उदार हो जायें। यदि इन सभी 780 महाप्रभुओं को एक या दो परिसरों में दो-तीन बेडरूम, ड्राइंग रूम और ऑफ़िस से युक्त लग्जरी फ़्लैटों वाली बहुमंजिली इमारतों में व्यवस्थित कर दिया जाये तो आवास, रखरखाव, बिजली और सुरक्षा मदों में ही सालाना अरबों रुपये बचाये जा सकते हैं। फ़िलहाल कुछ हज़ार नेता

और अफ़सर अकेले दिल्ली के उतने बड़े इलाक़े में रहते हैं, जितने में शेष दिल्ली की लगभग 80 लाख आबादी रहती है। प्रान्तीय राजधानियों में भी कमोबेश ऐसी ही स्थिति है।

ध्यान रहे कि इस निबन्ध में हम केवल नेताओं की परजीवी जमात की बात कर रहे हैं, उस भारी-भरकम नौकरशाही तन्त्र के वेतन-भत्तों और अन्य खर्चों की यहाँ चर्चा नहीं की गयी है जिसमें ऊपर सचिव स्तर से लेकर नीचे कलक्टर-तहसीलदार तक, डीजीपी से लेकर एसपी तक, बिजली, सिंचाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, रेल, डाक-तार, जंगलात, यातायात, उद्योग-व्यापार आदि विभागों के अफ़सरों-इंजीनियरों से लेकर राजनयिकों तक – पूरे देश में करीब 70-75 लाख ऐसे अधिकारी होंगे जो अपनी वैध कमाई से पश्चिमी देशों के पैमाने पर उच्च-मध्यवर्ग की ज़िन्दगी बिताते हैं, इनकी अवैध कमाई और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट की तो बात ही छोड़ दें।

यह तो हुई नेताओं की विधिसम्मत कमाई और विशेष सुविधाओं की बात, अब भ्रष्टाचार और काली कमाई की भी थोड़ी चर्चा कर ली जाये, जो वास्तव में सफ़ेद कमाई से दस गुना-बीस गुना अधिक होती है। बात थोड़ा पहले से शुरू की जाये।

नेताओं द्वारा कमीशनखोरी और घूस से धन कमाने और स्विस बैंकों में जमा करने का काम नेहरू काल में शुरू हो चुका था, पर उस समय बुर्जुआ राजनीति उस हद तक पतित नहीं हुई थी। 1950 और 1960 के दशकों में अख़बारों के पन्नों पर केवल कुछ घोटालों की चर्चा ही देखने को मिलती थी। 1970 के दशक में दलबदल और राजनीतिक अवसरवाद के साथ ही नेताओं और नौकरशाहों द्वारा दलाली, घूसखोरी, घोटालों में भारी वृद्धि हुई। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और विभागों से लाभ उठाने, आपूर्ति एवं निर्माण के सरकारी ठेके हासिल करने, आयात-निर्यात के लाइसेंस हासिल करने और कर चोरी करने के लिए पूँजीपति, व्यापारी और ठेकेदार नेताओं और सरकारी अधिकारियों को बड़े पैमाने पर कमीशन और घूस देने लगे। इसके अतिरिक्त आम लोग हर छोटे-मोटे काम के लिए सरकारी दफ़्तरों से लेकर कचहरियों तक क़दम-क़दम पर घूस देते रहे, वह भी बँटती हुई ऊपर तक पहुँचती रही। यह रक़म पूँजीपतियों-व्यापारियों, ठेकेदारों द्वारा दी गयी दलाली व कमीशन की रक़म से कम नहीं बल्कि ज़्यादा ही थी। पूँजीपति-व्यापारी भी नेताओं-अफ़सरों को जो घूस-कमीशन देते हैं, उसकी भरपाई आम लोगों को निचोड़कर और टगकर ही करते

हैं। 1970 के दशक तक सार्वजनिक क्षेत्र के उच्च पदस्थ नौकरशाह नेताओं को लूट का भागीदार बनाकर जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े उपक्रमों को दीमक की तरह खोखला बनाते रहे। फिर आया 1980 का दशक, जब इंस्पेक्टर राज और लाइसेंस कोटा प्रणाली का खात्मा करके भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने का लोकरंजक नारा देते हुए इन्दिरा गाँधी और फिर राजीव गाँधी ने निजीकरण-उदारीकरण के दौर के लिए भूमिका तैयार की। तर्क यह दिया गया कि आर्थिक प्रक्रिया पर सरकारी तन्त्र की जकड़ ढीली करके बाज़ार के स्वाभाविक तर्क को निर्बन्ध करने से तेज़ आर्थिक विकास के साथ ही भ्रष्टाचार में भी कमी आयेगी। लेकिन तथ्य एवं आँकड़े बताते हैं कि व्यवहार में इसका उलटा हुआ। सरकारी विकास योजनाओं में धन की लूट तो पूर्ववत् चलती ही रही और उन सरकारी दफ़्तरों में भी भ्रष्टाचार जारी रहा, जिनसे आम लोगों का काम पड़ता था। पर अब एक बड़ा फ़र्क यह पड़ा कि प्राकृतिक संसाधनों के भण्डारों, राजकीय उपक्रमों और ज़मीन आदि को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करने, उन्हें महँगे सौदे और ठेके देने, लाइसेंस देने और करों में छूट देने के बदले में राजनेताओं और नौकरशाहों को करोड़ों-अरबों रुपये की दलाली मिलने लगी। बोफोर्स घोटाला, चारा घोटाला, पनडुब्बी घोटाला आदि अनगिन घोटालों का नया दौर शुरू हो गया जो आज तक जारी है।

स्मरणीय है कि स्विट्ज़रलैण्ड की प्रसिद्ध पत्रिका 'स्वाइजर इलस्ट्रायटी' ने 1991 में लिखा था कि पूर्व प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी तीसरी दुनिया के उन चौदह पूर्व शासकों में शामिल हैं जिन्होंने अपना धन स्विस् बैंकों में छिपा रखा है। उनके स्विस् बैंक खातों में 46 अरब 25 करोड़ रुपये जमा हैं। सूत्रों के अनुसार, 1984 में अर्थव्यवस्था पर सार्वजनिक नियन्त्रण क्रमशः हटाये जाने के साथ ही स्विस् बैंकों में जमा भारतीय काला धन बढ़ता गया और यह प्रक्रिया 1991 के बाद और तेज़ हो गयी। विश्व बैंक की 1986 की रपट के हवाले से अर्थशास्त्री बी. एम. भाटिया ने अपनी पुस्तक 'इण्डियाज़ मिडिल क्लास' में स्विस् बैंकों में जमा भारतीय काला धन का परिमाण 13 अरब रुपये बताया था। फिर 'आउटलुक' के 26 मार्च 1997 के अंक में स्विट्ज़रलैण्ड के दिल्ली स्थित दूतावास के उप प्रमुख का एक बयान छपा था जिसके अनुसार भारतीयों का स्विस् में जमा धन दो खरब 80 अरब रुपये के आसपास था। और अब इस वर्ष, विगत 8-9 मई को सीएनएन-आईबीएन न्यूज़ चैनल ने स्विस् बैंकिंग एसोसिएशन की 2006 की रपट के हवाले से बताया है कि **स्विस् बैंकों में**

भारतीयों की जमा राशि 1,456 अरब डॉलर है। यदि डॉलर का औसत मूल्य 40 रुपये भी मान लिया जाये तो यह धनराशि 582 खरब 40 अरब रुपये होगी। यानी यह धनराशि भारत के सकल घरेलू उत्पाद से भी अधिक है और साथ ही, भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार से लगभग पाँच गुना अधिक है (वर्ष 2006-07 के बाज़ार मूल्यों पर भारत का सकल घरेलू उत्पाद 414 खरब 60 अरब रुपये था और इस समय विदेशी मुद्रा भण्डार लगभग 300 अरब डॉलर है)। उल्लेखनीय है कि स्विस बैंकों में अन्य तमाम देशों के लोगों द्वारा कुल जमा राशि से भी अधिक अकेले भारतीयों ने जमा कर रखी है। काला धन छिपाने के लिए स्विस बैंकों के अतिरिक्त सेण्ट किट्स जैसे कई स्थान हैं जहाँ के बैंकों में भारतीयों ने काली कमाई छिपा रखी है। काले धन और 'अनअकाउण्टेड मनी' की समान्तर अर्थव्यवस्था की ताक़त और विस्तार का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि विदेशी बैंकों में जमा धन वास्तव में इसका एक छोटा सा हिस्सा ही है। भारत में अपजंजीकृत उद्योगों, नक़ली सामान बनाने वाले उद्योगों, अवैध व्यापार, तस्करी आदि में लगा जो काला धन लगातार काला धन पैदा करता रहता है, उसमें नेताओं-नौकरशाहों का भी धन लगा रहता है। नेताओं-अफ़सरों की अरबों-खरबों की काली कमाई ज़मीन-जायदाद में बेनामी सम्पत्ति के रूप में लगी है। किसी और के नाम पर ठेकेदारी या अन्य व्यवसाय में, शेयर बाज़ार में, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और सिनेमा में भी नेताओं-अफ़सरों ने अरबों-खरबों की पूँजी लगा रखी है।

उदारीकरण-निजीकरण के दौर में नेताओं-अफ़सरों की काली कमाई में बेशुमार बढ़ोत्तरी के कारणों को आसानी से समझा सकता है। नवउदारवादी नीतियों ने देशी-विदेशी पूँजीपतियों को मुनाफ़े और पूँजी संचय के सभी वैध रास्तों के अतिरिक्त सैकड़ों अवैध रास्ते भी दिये हैं। मनमोहन सरकार ने 2004-05 के वार्षिक बजट में पूँजीपतियों को 20 खरब 67 अरब रुपये, 2005-06 के बजट में 23 खरब 52 अरब, 2006-07 के बजट में 25 खरब 60 अरब और 2007-08 के बजट में 27 खरब 90 अरब रुपये की छूट दी। वार्षिक बजट के अतिरिक्त देश की साढ़े तीन लाख कम्पनियों पर लगने वाले कर में छूट की गुंजाइशें इस हद तक बढ़ा दी गयीं कि मुनाफ़े पर कर की दर 33.99 फ़ीसदी होने के बावजूद वास्तव में वे 20 फ़ीसदी से भी कम कर देती हैं।

ज़ाहिर है कि हर ऐसी छूट पर केन्द्र और राज्यों के नेताओं-अफ़सरों को

कमीशन और दलाली की रकम मिलती है। इनके अतिरिक्त सैनिक साजो-सामान, भारी मशीनरी आदि की आपूर्ति, तकनोलॉजी विषयक समझौते, सड़क, रेल, कारखाने आदि सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के ठेके, टेलीकॉम उद्योग में लाइसेंस देने जैसे काम – इन सभी में नेताओं-अफसरों की काली कमाई होती है। ठेका-लाइसेंस आदि को लेकर अलग-अलग क्षेत्रों में देशी एकाधिकारी घरानों में और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच गलाकाटू होड़ चलती है और वे नेताओं-अफसरों को खरीदने के लिए अकूत धन खर्च करते हैं। बैंकिंग-बीमा या किसी क्षेत्र विशेष में विदेशी पूँजी-निवेश का अनुपात बढ़ाने या निजी क्षेत्र की दखल बढ़ाने के लिए सरकार के दर्जनों मन्त्रियों और दर्जनों अफसरों को देशी-विदेशी पूँजीपति खरीद लेते हैं। इन सबके चलते नेताशाही और अफसरशाही आज ऐश्वर्य के द्वीपों पर रोमन साम्राज्य के पतनशील दिनों के दास-स्वामियों और राजनीतिज्ञों का पतित-विलासी जीवन बिता रहे हैं और साथ ही तमाम काले-सफ़ेद धन्धों में पूँजी लगाकर पूँजीपतियों, तस्करों और अपराधियों के पार्टनर बन रहे हैं।

यह अकारण नहीं है कि हर पाँच वर्षों बाद एक-एक राजनेता जब चुनावी पर्चा भरते समय अपनी सम्पत्ति की घोषणा करता है तो वह पाँच वर्षों में दस गुनी, बीस गुनी हो जाती है। पिछले चुनाव के समय मायावती ने अपनी घोषित सम्पत्ति 52 करोड़ रुपये बताया थी। 2004 से 2008 के विधानसभा चुनावों के बीच कर्नाटक के पूर्व मुख्यमन्त्री एच. डी. कुमारस्वामी के घोषित सम्पत्ति 3.76 करोड़ से बढ़कर 49.72 करोड़ रुपये, कांग्रेसी उम्मीदवार सन्तोष लाड़ की सम्पत्ति 3.57 करोड़ से बढ़कर 56.08 करोड़ रुपये, रमेश लक्ष्मण राव जाटकिहोली की सम्पत्ति 3.57 करोड़ रुपये से बढ़कर 39.87 करोड़ रुपये और अजय कुमार सरनायक की सम्पत्ति 93 लाख रुपये से बढ़कर 21.25 करोड़ रुपये हो गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह घोषित सम्पत्ति तो कुल वास्तविक सम्पत्ति का दसवाँ भाग भी नहीं होती। सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा तो काला धन, बेनामी सम्पत्ति, गहने-जवाहरात, रिश्तेदारों के नाम पर रखी गयी सम्पत्ति और भरोसमन्द लोगों के नाम पर व्यापार-धन्धों में लगाये गये धन के रूप में होता है। शीर्षस्थ कांग्रेसी नेताओं और प्रान्तीय क्षेत्रों से लेकर मुलायम सिंह, लालू प्रसाद, रामविलास पासवान इन सभी पर यह बात लागू होती है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि राजनेताओं और अफसरों के ऐयाशी और फ़िज़ूलखर्ची के किस्से पुराने राजाओं-महाराजाओं-नवाबों को भी मात देते हैं।

आश्चर्य नहीं कि सरकारें बनाने-गिराने के खेल में करोड़ों और अरबों के लेन-देन की चर्चा अक्सर सुनने में आती रहती है।

अख़बार के पन्नों पर भ्रष्टाचार के खिलाफ़ गाँधीवादी किस्म का अरण्यरोदन और विधवा-विलाप जारी रहता है। फिर जो बुद्धिजीवी सत्ता की मलाई जूठन के तौर पर भी पा जाता है वह चुप लगा जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के जागरूक पहरेदार जब देखते हैं कि पूँजीवादी जनतन्त्र की नौटंकी सरे राह भ्रष्टाचार के गन्द की हाँडी फूटते रहने से कुछ ज़्यादा ही फूहड़ हो गयी है और व्यवस्था की असलियत सामने आ गयी है, तब वे भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण के लिए कुछ क़दम उठाते हैं। भ्रष्टाचार निरोधक विभाग कुछ छापे मारता है, कुछ आदर्शवादी अफ़सरों को मीडिया नायक के रूप में प्रस्तुत करती है, कभी लोकपाल विधेयक लाया जाता है तो कभी भ्रष्टाचार विरोधी सख़्त क़ानून की बातें होती हैं। और फिर कुछ दिनों बाद ही सब कुछ बदस्तूर चलने लगता है।

भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी, वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस वैधिक दायरों को लाँघकर, जैसे भी हो, दोनों हाथों से लूटने की तार्किक परिणति तक पहुँच ही जायेगी। भ्रष्टाचार पश्चिमी देशों में भी है, जापान, रूस और “बाज़ार समाजवादी” चीन में भी है। फ़र्क यह है कि समृद्ध देशों के मुक़ाबले भारत और एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज़्यादा नंगा, फूहड़ और बर्बर जनद्रोही है। इसका एक कारण तो यह है कि इन पिछड़े देशों में स्वयं जनता की जनवादी चेतना पिछड़ी हुई है और समाज में बुर्जुआ जनवादी मूल्यों का भी कमज़ोर आधार है। दूसरे, पश्चिमी देशों के राजनेताओं-नौकरशाहों को वैध कमाई से ही, यानी पूँजीपतियों की सेवा करने के एवज़ में क़ानूनी तौर पर प्राप्त धन से ही काफ़ी ऊँचा जीवन स्तर मिल जाता है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग का जो हिस्सा राजनीति या प्रशासनिक सेवा में आता है, उनमें से अधिकांश भूतपूर्व ज़मींदारों और सामन्ती कुलीनों के वारिस हैं, जो जनता की हड्डियाँ निचोड़कर रुग्ण-विलासी जीवन जीना चाहते हैं और पीढ़ियों के लिए सुख-सुविधा की गारण्टी कर लेना चाहते हैं। आम घरों के जो लोग इनकी क़तारों में शामिल हो जाते हैं, वे भी अपने जैसों का पक्ष छोड़कर धन-सम्पत्ति जुटाने में लग जाते हैं और कभी-कभी तो पुराने कुलीनों के वारिसों को भी इस मायने में पीछे छोड़ देना चाहते हैं। अवैध

लूट की यही प्रक्रिया निजीकरण-उदारीकरण के दौर में अपने चरम पर जा पहुँची है।

पूँजीवादी जनवाद के सारे नाटक का सारतत्त्व यह है कि सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती हैं, संसद में बहसबाजी करने वाले जनप्रतिनिधित्व के प्रॉड को विश्वसनीय बनाते हैं, नौकरशाही शासन और शोषण की नीतियाँ बनाने और लागू करने का काम करती है और सेना-पुलिस हर विद्रोह को कुचल देने के लिए चाक-चौबन्द रहती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं, जिनके बिना पूँजीवादी तन्त्र चल ही नहीं सकता। इन सभी को ऊँचे वेतन-भत्ता और विशेषाधिकारों के रूप में अपने काम की कीमत मिलती है, पर ये लोग जिस जगह पर बैठे होते हैं, वहाँ कोई भ्रम नहीं होता। ये सभी जानते हैं कि वे लुटेरों के सेवक हैं। लुटेरों के सेवक अपने मालिकों के प्रति वफ़ादार तो हो सकते हैं, पर एक सामाजिक श्रेणी के तौर पर नैतिक और सदाचारी कदापि नहीं हो सकते। इसलिए स्वामी वर्ग की चाकरी करते हुए, नीतियाँ बनाते और लागू करते हुए तथा उत्पीड़ित-शोषित जनों को भरमाते-ठगते- दबाते और कुचलते हुए जहाँ भी उन्हें मौका मिलता है, उसका लाभ उठाकर अपनी जेब गर्म कर लेने से भी वे क़तई बाज़ नहीं आते। इनके दिल में यह आकांक्षा तो होती ही है कि वे भी अपने मालिकों की तरह, वैध या अवैध तरीक़े से पूँजी लगाकर मुनाफ़ा कमायें और नेताशाही-अफ़सरशाही का एक हिस्सा पूँजीवादी उपक्रमों का शेयर ख़रीदने का काम या पूँजीपतियों के कमीशन एजेण्ट का काम करने वालों में लगातार शामिल होता रहता है। शेष काला धन छुपाने, ठेका पट्टी करने, बेनामी सम्पत्ति जुटाने या पेट्रोल पम्प लेने जैसे कामों में लगा रहता है और एक ज़िला स्तर का अफ़सर और एक बार का विधेयक भी आने वाली पीढ़ियों के लिए उच्चमध्यवर्गीय जीवन की गारण्टी तो हासिल कर ही लेता है।

यूँ भी कहा जा सकता है कि पूँजीवादी समाज में सफ़ेद धन की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ काले धन की अर्थव्यवस्था भी अनिवार्यतः मौजूद रहती है जो पूँजीपतियों को अवैध कमाई का मौका देने के साथ ही नेताओं-अफ़सरों सहित तमाम परजीवी वर्गों को लूटने-खसोटने के अवसर उपलब्ध कराती है। भ्रष्टाचार और काली कमाई शुरू से ही पूँजीवादी संचय-प्रक्रिया के

अभिन्न अंग के रूप में मौजूद रहे हैं। पूँजीपति वर्ग ने पूँजीवादी व्यवस्था के उद्भव और विकास के दौर में नियम-कानूनों का ऐसा तन्त्र तैयार किया है जिससे बढ़ता भ्रष्टाचार पूँजीवादी शोषण की पूरी प्रणाली के सुचारू संचालन में बाधक न बने और पूँजीवादी जनवादी आदर्शों से जनता विमुख न हो। फिर भी चूँकि आपस में होड़रत पूँजीपति स्वयं भी भ्रष्टाचार को शोषण और संचय के एक माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते थे, इसलिए राजनीतिक तन्त्र और नौकरशाही में भ्रष्टाचार का संक्रमण समय-समय पर गम्भीर हो जाना लाजिमी था और यही होता रहा है।

मौजूदा नवउदारवादी दौर ने तमाम बुर्जुआ जनवादी मूल्यों-आदर्शों को खुद ही छिलके की तरह पूँजीवाद के शरीर से उतार फेंका है। सबकुछ बाज़ार की शक्तियों के हवाले करने और “कल्याणकारी राज्य” के दौर के पटाक्षेप के बाद सरकारें एकदम खुले रूप में पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी बन चुकी हैं। हर प्रकार की कमीशनखोरी, दलाली, लेनदेन, घूस – सबकुछ पूँजी के ‘खुला खेल फर्सुखाबादी’ का स्वाभाविक हिस्सा माना जाने लगा है। नेताओं, अफसरों, दलालों और पेशेवर अपराधियों तक के बीच न केवल खुले गँठजोड़ बन चुके हैं, बल्कि उनके बीच की विभाजक रेखाएँ भी मिट चुकी हैं। आज का पूँजीवाद जिस तरह असाध्य ढाँचागत आर्थिक संकट का शिकार है, उसी तरह वह राजनीतिक-सांस्कृतिक और नैतिक संकट का भी शिकार है। भ्रष्टाचार इसी की एक अभिव्यक्ति है, परिणाम है और लक्षण है।

इस लेख में हमारी चर्चा का विषय केवल भारत की पूँजीवादी राजनीतिक प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार ही नहीं है। हमने शुरुआत इस चर्चा से की थी कि भारत में मन्त्रियों, जनप्रतिनिधियों पर किस तरह सालाना खरबों रुपये एकदम फालतू खर्च होते हैं और भारत का विशालकाय पूँजीवादी जनवादी संसदीय राजनीतिक ढाँचा किस क़दर फ़िज़ूलखर्च और परजीवी है, कितना बर्बर-मानवद्रोही है और आज के पतनशील पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि स्वयं कितने भ्रष्ट और विलासी हैं!

यह पूरा विवरण एक स्वयंसिद्ध प्रमेय है जो बताता है कि यह पूरी व्यवस्था सिर से पाँव तक सड़ चुकी है और मेहनतकश वर्ग के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि वह पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इस खर्चीली धोखाधड़ी और लूटतन्त्र को सिरे से खारिज कर दे। और इतिहास बताता है कि ऐसा ही होगा। विगत मज़दूर क्रान्तियों की हार अन्तिम नहीं थी।

इतिहास का अभी अन्त नहीं हुआ है। बल्कि इतिहास की असली शुरुआत तो तब होगी जब निर्णायक मजदूर क्रान्तियाँ पूँजीवाद की शवपेटिका को कब्र में उतार देंगी। एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्ग काबिज़ होंगे, उसमें जनप्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणाली होगी ही नहीं, जिसमें संसद सदस्य और विधयकों के चुनाव में अरबों-खरबों खर्च हों और अरबों-खरबों उन्हें वेतन-भत्ते और विलासिता के खर्च के तौर पर दिये जायें और फिर उन्हें अरबों-खरबों की काली कमाई का भी मौका दिया जाये। मेहनतकशों द्वारा कायम नया समाजवादी जनवाद पूँजीवादी जनवाद से इस मायने में भिन्न होगा कि उसमें चुनाव नाममात्र के खर्च का काम होगा। आम जनता सामूहिक, राजकीय और सहकारी फ़ार्मों और कारख़ानों के बुनियादी स्तर से अपने प्रतिनिधियों के निकायों का चुनाव करेगी और फिर उनसे ऊपर के निकायों के प्रतिनिधि चुने जायेंगे। यह क्रम केन्द्रीय स्तर तक जायेगा। छोटे निर्वाचक मण्डल (चुनाव क्षेत्र) होने के कारण चुनाव प्रचार का खर्च नगण्य होगा और चुनाव में पैसे की वैध-अवैध भूमिका समाप्त हो जायेगी। हर नागरिक को चुनने और चुने जाने का अधिकार होगा। जनता को बहुमत से चुने हुए प्रतिनिधि को वापस बुलाने का भी अधिकार होगा। जनप्रतिनिधियों के निकाय किसी भी स्तर पर बहसबाज़ी के अड्डे मात्र नहीं होंगे। सरकार यानी कार्यपालिका के काम और संसद यानी विधायिका के काम को वे एक साथ सम्पन्न करेंगे। नौकरशाही का काम भी चुने हुए जनप्रतिनिधियों के निकाय ही करेंगे। नेताओं का कोई स्वतन्त्र पेशा नहीं होगा। वे आम उत्पादक वर्गों के बीच के लोग होंगे और उनका वेतन और जीवन स्तर भी उन्हीं जैसा होगा। चूँकि कारख़ानों, फ़ार्मों आदि पर निजी मालिकाना नहीं होगा, व्यापारिक उपक्रम भी एक प्रक्रिया से गुज़रकर, सामाजिक स्वामित्व में आ जायेंगे और शेयर बाज़ारों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इसलिए मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश समाप्त होने के साथ ही कमीशनखोरी, घूस और दलाली का भी उन्मूलन हो जायेगा। तय है कि ये सारी चीज़ें जनक्रान्ति के बाद अचानक नहीं बल्कि एक प्रक्रिया में अस्तित्व में आयेंगी। पर राजनीतिक ढाँचे का चरित्र और विकास की आम दिशा ऐसी ही होगी।

कल्पना कीजिये कि सिर्फ़ परजीवी पूँजीवादी नेताशाही और नौकरशाही

की समाप्ति के साथ ही सामाजिक सम्पदा का कितना अकूत अम्बार सार्वजनिक निर्माण भी पूँजी के तौर पर और कल्याणकारी कामों के लिए हासिल हो जायेगा। पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की परिसम्पत्तियों और पूँजी को अलग रख दें, तो सिर्फ नेताओं, नौकरशाहों और काली कमाई पर पनपे तमाम परजीवियों की अकूत धन सम्पदा मजदूर क्रान्ति के बाद भारत में एक या दो पंचवर्षीय योजनाएँ या विराट निर्माण-परियोजनाएँ संचालित की जा सकती हैं। देशभर के मठों-मन्दिरों के पास जमा अकूल सम्पदा से सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य की देशव्यापी व्यवस्था निर्मित की जा सकती है। देशभर के परजीवी हर वर्ष जो वैध-अवैध धन-सम्पत्ति इकट्ठा करते हैं, उसे भी वे मेहनतकश ही पैदा करते हैं जो तमाम सामाजिक सम्पदा के निर्माता होते हैं। एक आम मजदूर यह अनुमान भी नहीं लगा पाता कि वह कितना कुछ पैदा करता है और उसका कितना छोटा हिस्सा उसे हासिल होता है। मजदूरों के सच्चे क्रान्तिकारी नेतृत्व का दायित्व है कि मजदूरों को इस सच्चाई से अवगत कराये। चीजों को बदलने के लिए चीजों को जानना ज़रूरी है। पूँजीवादी व्यवस्था के हर पहलू से मजदूर वर्ग को परिचित कराना होगा। पूँजीवादी जनवाद की असलियत को नंगा करने के लिए चुनाव प्रणाली, संसद, मन्त्रियों और जनप्रतिनिधियों पर होने वाले भयंकर खर्च की तथा नेताओं-अफसरों की काली कमाई और विशेषाधिकारों की यहाँ एक तस्वीर उपस्थित की गयी है। इसी तरह हमें व्यवस्था के हर पहलू को समझना होगा ताकि विकल्प के खाके पर सोचा-विचारा जा सके।



बीस रुपये रोज़ाना से कम की आमदनी पर गुज़ारा करने वाली भारत की करीब चौरासी करोड़ आबादी को देश के नेताओं के भ्रष्टाचार और ऐयाशी के बारे में तो पता है, लेकिन क़ानूनी तौर पर उन्हें जो वेतन-भत्ते-सुविधाएँ हासिल हैं, उन पर आम जनता की गाढ़ी कमाई का कितना बड़ा हिस्सा खर्च होता है, इसका वे अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते। क़ानूनी कमाई के अतिरिक्त, देश की नेताशाही और नौकरशाही दलाली, कमीशनखोरी और घूसखोरी के द्वारा जो काला धन जमा करती है, उसका अनुमान लगा पाना तो एक आम आदमी के लिए और भी मुश्किल है। आइये, अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों और पूँजीवादी अख़बारों की कुछ रिपोर्टें, सूचना के अधिकार के तहत विभिन्न सरकारी महक़मों से हासिल की गयी कुछ जानकारियों और कुछ आर्थिक-राजनीतिक मामलों के बुर्जुआ विशेषज्ञों की पुस्तकों या लेखों से लिये गये थोड़े से चुनिन्दा तथ्यों और आँकड़ों की रोशनी में भारतीय जनतन्त्र की कुरूप, अश्लील और बर्बर असलियत को पहचानने की कोशिश करें।



राहुल फ़ाउण्डेशन

मूल्य : तीन रुपये